दत्तात्रेय नारायण धनगरे

समाजशास्त्र के साथ ज़मीनी जिरह

नरेश गोस्वामी

दत्तात्रेय नारायण धनगरे (11 जून, 1936–07 मार्च, 2017) भारतीय समाजशास्त्र में एक विशिष्ट धारा का प्रतिनिधित्व करते थे। अपने अध्यापकीय जीवन और बौद्धिक कर्म में वे ज़मीनी समाजशास्त्र के पक्षधर थे। उनका शोध तथा कृतित्व मुख्यत: सामाजिक आंदोलनों, खेती के समाजशास्त्र और विकास के बुनियादी सवालों के इर्द-गिर्द केंद्रित रहा। इन तीनों क्षेत्रों में उनका शोध सतह के भीतर देखती निगाह के कारण अलग से पहचाना जाता है।

एक समय जब भारतीय समाजशास्त्र जाति, नातेदारी और ग्राम्य-अध्ययन से आगे नहीं देख पा रहा था और उसकी प्रस्थापनाओं का प्रतिष्ठान संरचना-प्रकार्य के खूँटे बँधा था तो धनगरे *पेजेंट मूवमेंट्स इन इण्डिया, 1920–1950* जैसी महत्त्वपूर्ण रचना लेकर उपस्थित हुए।

भारतीय समाजशास्त्र के साथ धनगरे की यह जिरह जीवनपर्यंत चलती रही। 2014 में प्रकाशित अपनी एक अन्य कृति *द राइटिंग्स ऑफ़ डीएन धनगरे : द मिसिंग ट्रेडिशन— डिबेट्स ऐंड डिस्कोर्सेज़ इन इण्डियन सोसियोलॅजी* के एक लेख में धनगरे ने यह चिंता व्यक्त की थी कि भारतीय समाजशास्त्र में जब भी कोई सार्थक विमर्श खड़ा होता है तो वह हमेशा इस अनुशासन के पेशेवर लोगों की इलीट जमात तक सीमित होकर रह जाता है। यह चिंता अपने आप में एक बीज-वक्तव्य है जिससे पता चलता है कि धनगरे विश्वविद्यालय के परिसर तक सीमित रह जाने वाले समाजशास्त्री नहीं थे। उनका एक महत् सरोकार यह था कि समाजशास्त्रीय ज्ञान सामान्य-बोध (कॉमनसेंस) और नीति-निर्धारण का हिस्सा बनना चाहिए। यही वजह थी कि समाजशास्त्र के अभिजन विद्वानों और उसके साधारण

उपयोगकर्ताओं का संधि-स्थल उनकी दृष्टि से कभी ओझल नहीं हुआ। धनगरे को केंद्र और परिधि का यह फ़ासला बेहद अखरता था। उनका मानना था कि भारतीय भाषाओं का हाथ थामे बग़ैर भारतीय समाजशास्त्र अपने आभिजात्य से मुक्त नहीं हो सकता। ग़ौरतलब है कि धनगरे के लिए भारतीय भाषाओं की पक्षधरता बौद्धिक रस्म नहीं थी। वे न केवल अपनी मातृभाषा मराठी में सिद्धहस्त थे, बल्कि इच्छुक विद्यार्थियों को मराठी माध्यम में पढ़ाने के लिए भी हमेशा तत्पर रहते थे। उनकी एक छात्रा ने अपने स्मरण में लिखा है कि मृत्यु से एक दिन पहले धनगरे मराठी माध्यम में शोध कर रहे एक विद्यार्थी को पाँच घंटे तक पढ़ा रहे थे!

सैद्धांतिक पद्धति और परिप्रेक्ष्य के लिहाज़ से भारतीय समाजशास्त्र के विकास-क्रम में विशिष्ट पीठों या केंद्रों के अभाव की चर्चा करते हुए धनगरे इस निष्पत्ति पर पहुँचे कि भारत में समाजशास्त्र का अनुशासन दो तरह की विसंगतियों से ग्रसित रहा। कहीं उस पर विरासत हावी रही तो विद्वत्ता के विकास में बरती जाने वाली सावधानी जाती रही, और अगर कहीं विद्वत्ता/शोध की अर्हताओं का कड़ाई से पालन किया गया तो उसकी विरासत नहीं बन पाई। इस क्रम में वे यह कहने से भी नहीं चूके कि समाजशास्त्र के विभागों में संरक्षण और कृपाभाव का एक अर्ध-सामंती सा घटाटोप रहता है जिसके कारण विद्वत्ता का प्रश्न दूसरे नम्बर पर चला जाता है।

एक समाजशास्त्री के तौर पर धनगरे के सरोकार बिल्कुल साफ़ रहे। वे अपनी विषय-वस्तु को ज़मीनी कोण से देखते थे और अभिजनमूलक प्रस्थापनाओं के बजाय ज़मीनी स्थितियों को तरज़ीह देते थे। वैश्विक-व्यवस्था, नव-उदारतावादी पूँजीवाद और हरित-क्रांति से लेकर नागरिक समाज, राज्य तथा लोकतंत्र जैसे प्रश्नों का संधान करते हुए उन्होंने हमेशा साधारण जन और मातहत वर्गों का पक्ष लिया।

धनगरे का मानना था कि भारत जैसे समाज में विश्वविद्यालय नागरिक समाज और विमर्शों की ज़मीन तैयार कर सकते हैं। पिछले तीन-चार सालों में विश्वविद्यालयों की कार्यप्रणाली और उनकी स्वायत्तता के साथ जिस तरह की छेड़छाड़ की गयी है उसे देखते हुए धनगरे के इस विचार पर नये सिरे से बहस शुरू की जा सकती है।

धनगरे का विश्लेषण वर्ग और जीविका के ढाँचे पर ज़ोर देते हुए नागरिक समाज तथा राज्य से मुख़ातिब होता था। सामाजिक आंदोलनों के अध्ययन में उन्होंने तुलनात्मक सामाजिक इतिहास तथा समाजशास्त्रीय शोध-दृष्टि का अनूठा इस्तेमाल किया। खेती का समाजशास्त्र उनके शोध का एक स्थायी क्षेत्र था। उनकी आख़िरी रचना *पॉपुलिज़्म ऐंड पॉवर : फार्मर्स मूवमेंट इन महाराष्ट्र, 1980–1914,* इस बात की तसदीक़ करती है कि जीवन के अंतिम समय में भी उनकी दृष्टि धुँधली नहीं पड़ी। संरचनात्मक मार्क्सवाद, ख़ास तौर पर ग्राम्शी की वर्गीय वर्चस्व (क्लास हेज़ेमनी) की अवधारणा के साथ फ़ील्डवर्क का उपयोग करते हुए उन्होंने इस पुस्तक में महाराष्ट्र के किसान आंदोलन के उत्थान और पतन का एक प्रामाणिक दस्तावेज़ तैयार किया। शेतकारी संगठन के एजेण्डे और लामबंदी के इस अध्ययन में उन्होंने यह दिखाया कि अपने शुरुआती दौर में यह मुख्यत: एक किसान आंदोलन था जो धीरे-धीरे अपने साथ अन्य वर्गों के हितों का भी समायोजन करता गया। ग़ौरतलब है कि विद्वानों का एक समूह ऐसे किसान आंदोलनों को केवल समृद्ध और ताक़तवर किसानों का आंदोलन बता रहा था। उनका कहना था अंतत: ऐसे आंदोलनों से मुख्यत: यही वर्ग लाभान्वित होगा क्योंकि बाज़ार में खपाने लायक़ उत्पादन यही वर्ग कर सकता है। लेकिन, धनगरे ने साक्ष्य देकर बताया कि किसान आंदोलन के तीन दशकों के दौरान छोटे और मझोले किसान नक़दी फ़सलों का उत्पादन करने लगे जिससे उनकी आय में निश्चित इज़ाफ़ा हुआ।

इस क़िताब में धनगरे ने किसान आंदोलनों तथा राजनीति के अंतर्संबंधों की भी थाह ली है। उनका मानना है कि आज़ादी के बाद भारतीय राज्य ने ग्रामीण विकास की एकांगी रणनीति बनाई जिसके कारण किसानों का एक समृद्ध वर्ग लगातार मज़बूत होता चला गया। भू-स्वामित्व का असमान

वितरण इसी विसंगति की ओर इशारा करता है। उनके अनुसार भारतीय राजनीति और समाज में भू-स्वामित्व पर आधारित ताक़त आज भी इसीलिए एक कारक के तौर पर काम करती है। लेकिन, इसके साथ धनगरे यह भी बताते हैं कि समृद्ध किसानों के ऐसे समूहों ने अपना प्रतिरोध दर्ज करने के लिए हमेशा निष्क्रिय क्रांति का रास्ता अपनाया है क्योंकि उन्हें इस बात का हमेशा डर रहा है कि उग्र राजनीति का मुहावरा उनकी अधिशेष ज़मीन पर भारी पड़ सकता है।

किसान आंदोलन तथा राजनीति की इस पड़ताल में धनगरे ने महिलाओं की भागेदारी और उनके सशक्तीकरण पर भी मुक़म्मल ध्यान दिया। इस क़िताब में संकलित एक स्वतंत्र लेख में उन्होंने दिखाया कि आठवें दशक की शुरुआत में महिलाओं ने किसान आंदोलन में स्वेच्छा से भाग लिया। आंदोलन के विभिन्न मोर्चों पर उनकी सक्रियता को देखते हुए शेतकारी संगठन में महिलाओं की एक स्वतंत्र शाखा का गठन किया गया। इन महिलाओं ने जहाँ एक तरफ़ गाँवों में शराब की दुकानें बंद कराईं, वहीं दूसरी ओर लक्ष्मी मुक्ति जैसी मुहिम भी शुरू की जिसके तहत लगभग दो लाख महिलाओं को पारिवारिक ज़मीन में क़ानूनी हिस्सेदारी दी गयी। महिलाओं की इस सक्रियता के कारण उन्हें स्थानीय निकायों में भी प्रतिनिधित्व मिला। लेकिन, किसान आंदोलन में महिला-भागीदारी के इस आख्यान की जटिलताओं की तफ़्तीश करते हुए धनगरे ने दिखाया कि जेण्डर-समानता और न्याय की दृष्टि से किसान आंदोलनों की उपलब्धियाँ ख़ासी सीमित रहीं। मसलन, महिलाओं के नाम ज़मीन हस्तांतरित करने से पहले उनके पतियों की राय जानना ज़रूरी समझा गया। दूसरे, विवादित ज़मीन के मामलों में महिलाओं को अंततः न्याय के पुरुष-प्रधान ढाँचे से टकराना पड़ा; अपनी ज़मीन के प्रबंधन, ऋण, बीज तथा खाद आदि जैसी सुविधाएँ हासिल करने के मामले में भी उनके साथ सहयोग नहीं किया गया। धनगरे बताते हैं कि शेतकारी संगठन नारीवाद का हामी नहीं था; उसके लिए महिलाओं की व्यापक लामबंदी महज़ एक प्रतीकात्मक महत्त्व रखती थी।

> मृत्यु से एक दिन पहले धनगरे मराठी माध्यम में शोध कर रहे एक विद्यार्थी को पाँच घंटे तक पढ़ा रहे थे! ... धनगरे इस निष्पत्ति पर पहुँचे कि भारत में समाजशास्त्र का अनुशासन दो तरह की विसंगतियों से ग्रसित रहा। कहीं उस पर विरासत हावी रही तो विद्वत्ता के विकास में बरती जाने वाली सावधानी जाती रही, और अगर कहीं विद्वत्ता/शोध की अर्हताओं का कड़ाई से पालन किया गया तो उसकी विरासत नहीं बन पाई। इस क्रम में वे यह कहने से भी नहीं चूके कि समाजशास्त्र के विभागों में संरक्षण और कृपाभाव का एक अर्ध-सामंती सा घटाटोप रहता है जिसके कारण विद्वत्ता का प्रश्न दूसरे नम्बर पर चला जाता है।

संक्षेप में कहें तो, इस किताब में धनगरे ने भू-स्वामी पर आश्रित किसान के स्वतंत्र किसान में रूपांतरित होने की प्रक्रिया का अध्ययन किया था। उन्होंने दर्शाया कि महाराष्ट्र का समकालीन किसान अब भू-स्वामी के बजाय बाज़ार पर निर्भर करता है। लेकिन, इस अध्ययन में उन्होंने यह भी स्पष्ट किया ग्रामीण भारत में खेती के विकास से सामाजिक विषमताएँ दूर होने के बजाय और गहराती चली गयीं।

हाल के वर्षों में धनगरे इस बात से चिंतित थे कि वैश्विक पूँजीवाद के बदलते स्वरूप के कारण ग्रामीण-खेतिहर समाज का स्वतंत्र ढाँचा ढहता जा रहा है; नव-उदारतावाद ने जन-आंदोलनों और प्रतिरोध की ऊर्जा नष्ट कर दी है लेकिन समाज-वैज्ञानिक, ख़ासकर समाजशास्त्री ग्रामीण-खेतिहर समाज की इस तबाही पर बहुत फ़िक्रमंद नज़र नहीं आते।

बहरहाल, उत्कृष्ट शोध के अलावा धनगरे का अध्यापकीय जीवन भी अनेक उपलब्धियों से भरा पड़ा था। 1995 में उन्हें पुणे विश्वविद्यालय ने उत्कृष्ट अध्यापन के लिए वी.के. जोग पुरस्कार से विभूषित किया। समाजशास्त्र में उल्लेखनीय योगदान के लिए उन्हें 2007 में विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के स्वामी प्रणवानंद सरस्वती पुरस्कार से सम्मानित किया गया। इण्डियन सोसियोलॅजिकल

सोसाइटी ने 2010 में उन्हें आजीवन उपलब्धि के सम्मान से नवाज़ा।

एक अध्यापक और विद्वान के रूप में धनगरे हमेशा नये विचारों और विमर्शों का स्वागत करते थे। अपनी शोध-छात्रा और दलित-नारीवाद की विलक्षण सिद्धांतकार शर्मिला रेगे की असमय मृत्यु पर उनका स्मरण करते हुए धनगरे ने अकुंठ भाव से स्वीकार किया था कि उन्हें नारीवाद की अनेकानेक बहसों और विवादों का पता रेगे के शोध-प्रबंध से हुआ था।

धनगरे ने अपने जीवन में इस भ्रांति को भी तोड़ कर दिखाया कि शोध और चिंतन में तल्लीन व्यक्ति अच्छा प्रशासक नहीं हो सकता। 1995 में उन्हें जब कोल्हापुर के शिवाजी विश्वविद्यालय के उपकुलपति का पद सौंपा गया तो उन्होंने विश्वविद्यालय का दैनिक प्रशासनिक ढाँचा बदल कर रख दिया। स्थानीय स्वार्थ-समूह उनके काम में लगातार अड़ंगे लगाते रहे लेकिन धनगरे अपनी मुहिम से पीछे नहीं हटे।
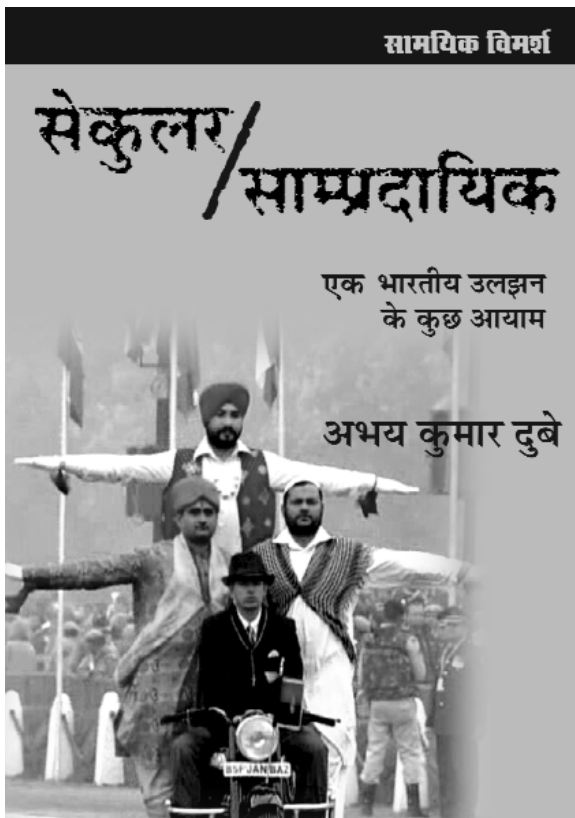
हममें से कौन सेकुलर है और कौन साम्प्रदायिक? दरअसल, राजनीति और विमर्श के दायरे में पाले के दोनों तरफ़ दो-दो हमशक्ल मौजूद हैं। सेकुलर की भी दो क़िस्में हैं और साम्प्रदायिक की भी। एक अल्पसंख्यक सेकुलरवाद है और दूसरा बहुसंख्यक सेकुलरवाद। इसी तरह एक अल्पसंख्यक साम्प्रदायिकता है और दूसरी बहुसंख्यक साम्प्रदायिकता। इन हमशक्लों की मौजूदगी से बाक़ायदा वाक़िफ़ होने के बावजूद अभी तक हम इन्हें अलग-अलग करके देखने और समझने की तमीज़ विकसित नहीं कर पाये हैं। दोनों सेकुलरवाद और दोनों साम्प्रदायिकताएँ संघर्ष और एकता के मौक़ापरस्त समीकरणों में गुँथी रहती हैं। यह पुस्तक एक निमंत्रण है सेकुलरवाद की एक ऐसी व्यावहारिक ज़मीन तैयार करने का जो दोनों तरह की साम्प्रदायिकताओं का पूरी तरह से निषेध करती हो।